चीलें

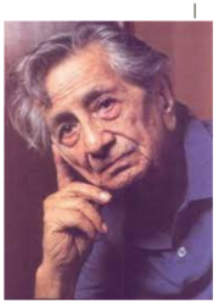

भीष्म साहनी

चीलें

चील ने फिर से झपट्टा मारा है। ऊपर, आकाश में मँडरा रही थी जब सहसा, अर्धवृत्त बनाती हुई तेजी से नीचे उतरी और एक ही झपट्टे में, मांस के लोथड़े को पंजों में दबोच कर फिर से वैसा ही अर्द्धवृत्त बनाती हुई ऊपर चली गई। वह कब्रगाह के ऊँचे मुनारे पर जा बैठी है और अपनी पीली चोंच, मांस के लोथड़े में बार-बार गाड़ने लगी है।

कब्रगाह के इर्द-गिर्द दूर तक फैले पार्क में हल्की हल्की धुंध फैली है। वायुमंडल में अनिश्चय सा डोल रहा है। पुरानी कब्रगाह के खंडहर जगह-जगह बिखरे पड़े हैं। इस धुँधलके में उसका गोल गुंबद और भी ज्यादा वृहदाकार नजर आता है। यह मकबरा किसका है, मैं जानते हुए भी बार-बार भूल जाता हूँ। वातावरण में फैली धुंध के बावजूद, इस गुंबद का साया घास के पूरे मैदान को ढके हुए है जहाँ मैं बैठा हूँ जिससे वायुमंडल में सूनापन और भी ज्यादा बढ़ गया है, और मैं और भी ज्यादा अकेला महसूस करने लगा हूँ।

चील मुनारे पर से उड़ कर फिर से आकाश में मँडराने लगी है, फिर से न जाने किस शिकार पर निकली है। अपनी चोंच नीची किए, अपनी पैनी आँखें धरती पर लगाए, फिर से चक्कर काटने लगी है, मुझे लगने लगा है जैसे उसके डैने लंबे होते जा रहे हैं और उसका आकार किसी भयावह जंतु के आकार की भाँति फूलता जा रहा है। न जाने वह अपना निशाना बाँधती हुई कब उतरे, कहाँ उतरे। उसे देखते हुए मैं त्रस्त सा महसूस करने लगा हूँ।

किसी जानकार ने एक बार मुझसे कहा था कि हम आकाश में मँडराती चीलों को तो देख सकते हैं पर इन्हीं की भाँति वायुमंडल में मँडराती उन अदृश्य 'चीलों' को नहीं देख सकते जो वैसे ही नीचे उतर कर झपट्टा मारती हैं और एक ही झपट्टे में इनसान को लहूलुहान करके या तो वहीं फेंक जाती हैं, या उसके जीवन की दिशा मोड़ देती हैं। उसने यह भी कहा था कि जहाँ चील की आँखें अपने लक्ष्य को देख कर वार करती हैं, वहाँ वे अदृश्य चीलें अंधी होती हैं, और अंधाधुंध हमला करती हैं। उन्हें झपट्टा मारते हम देख नहीं पाते और हमें लगने लगता है कि जो कुछ भी हुआ है, उसमें हम स्वयं कहीं दोषी रहे होंगे। हम जो हर घटना को कारण की कसौटी पर परखते रहे हैं, हम समझने लगते हैं कि अपने सर्वनाश में हम स्वयं कहीं जिम्मेदार रहे होंगे। उसकी बातें सुनते हुए मैं और भी ज्यादा विचलित महसूस करने लगा था। उसने कहा था, 'जिस दिन मेरी पत्नी का देहांत हुआ, मैं अपने मित्रों के साथ, बगल वाले कमरे में बैठा बतिया रहा था। मैं समझे बैठा था कि वह अंदर सो रही है। मैं एक बार उसे बुलाने भी गया था कि आओ, बाहर आ कर हमारे पास बैठो। मुझे क्या मालूम था कि मुझसे पहले ही कोई अदृश्य जंतु अंदर घुस आया है और उसने मेरी पत्नी को अपनी जकड़ में ले रखा है। हम सारा वक्त इन अदृश्य जंतुओं में घिरे रहते है।' अरे, यह क्या! शोभा? शोभा पार्क में आई है! हाँ, हाँ, शोभा ही तो है। झाड़ियों के बीचों-बीच वह धीरे-धीरे एक ओर बढ़ती आ रही है। वह कब यहाँ आई है और किस ओर से इसका मुझे पता ही नहीं चला। मेरे अंदर ज्वार सा उठा। मैं बहुत दिन बाद उसे देख रहा था।

शोभा दुबली हो गई है, तनिक झुक कर चलने लगी है, पर उसकी चाल में अभी भी पहले सी कमनीयता है, वही धीमी चाल, वही बाँकापन, जिसमें उसके समूचे व्यक्तित्व की छवि झलकती है। धीरे-धीरे चलती हुई वह घास का मैदान लाँघ रही है। आज भी बालों में लाल रंग का फूल ढँके हुए है।

शोभा, अब भी तुम्हारे होंठों पर वही स्निग्ध सी मुस्कान खेल रही होगी जिसे देखते मैं थकता नहीं था, होंठों के कोनों में दबी-सिमटी मुस्कान। ऐसी मुस्कान तो तभी होंठों पर खेल सकती है जब तुम्हारे मन में किन्हीं अलौकिक भावनाओं के फूल खिल रहे हों।

मन चाहा, भाग कर तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ और पूछूँ, शोभा, अब तुम कैसी हो?

बीते दिन क्यों कभी लौट कर नहीं आते? पूरा कालखंड न भी आए, एक दिन ही आ जाए, एक घड़ी ही, जब मैं तुम्हें अपने निकट पा सकूँ, तुम्हारे समूचे व्यक्तित्व की महक से सराबोर हो सकूँ।

मैं उठ खड़ा हुआ और उसकी ओर जाने लगा। मैं झाड़ियों, पेड़ों के बीच छिप कर आगे बढ़ूँगा ताकि उसकी नजर मुझ पर न पड़े। मुझे डर था कि यदि उसने मुझे देख लिया तो वह जैसे-तैसे कदम बढ़ाती, लंबे-लंबे डग भरती पार्क से बाहर निकल जाएगी।

जीवन की यह विडंबना ही है कि जहाँ स्त्री से बढ़ कर कोई जीव कोमल नहीं होता, वहाँ स्त्री से बढ़ कर कोई जीव निष्ठुर भी नहीं होता। मैं कभी-कभी हमारे संबंधों को ले कर क्षुब्ध भी हो उठता हूँ। कई बार तुम्हारी ओर से मेरे आत्म-सम्मान को धक्का लग चुका है।

हमारे विवाह के कुछ ही समय बाद तुम मुझे इस बात का अहसास कराने लगी थी यह विवाह तुम्हारी अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं हुआ है और तुम्हारी ओर से हमारे आपसी संबंधों में एक प्रकार का ठंडापन आने लगा था। पर मैं उन दिनों तुम पर निछावर था, मतवाला बना घूमता था। हमारे बीच किसी बात को ले कर मनमुटाव हो जाता, और तुम रूठ जाती, तो मैं तुम्हें मनाने की भरसक चेष्ठा किया करता, तुम्हें हँसाने की। अपने दोनों कान पकड़ लेता, 'कहो तो दंडवत लेट कर जमीन पर नाक से लकीरें भी खींच दूँ, जीभ निकाल कर बार-बार सिर हिलाऊँ?' और तुम, पहले तो मुँह फुलाए मेरी ओर देखती रहती, फिर सहसा खिलखिला कर हँसने लगती, बिल्कुल बच्चों की तरह जैसे तुम हँसा करती थी और कहती, 'चलो, माफ कर दिया।'

और मैं तुम्हें बाँहों में भर लेता था। मैं तुम्हारी टुनटुनाती आवाज सुनते नहीं थकता था, मेरी आँखें तुम्हारे चेहरे पर तुम्हारी खिली पेशानी पर लगी रहती और मैं तुम्हारे मन के भाव पढ़ता रहता। स्त्री-पुरूष संबंधों में कुछ भी तो स्पष्ट नहीं होता, कुछ भी तो तर्क-संगत नहीं होता। भावनाओं के संसार के अपने नियम हैं, या शायद कोई भी नियम नहीं।

हमारे बीच संबंधों की खाई चौड़ी होती गई, फैलती गई। तुम अक्सर कहने लगी थी, 'मुझे इस शादी में क्या मिला?' और मैं जवाब में तुनक कर कहता, 'मैंने कौन से ऐसे अपराध किए हैं कि तुम सारा वक्त मुँह फुलाए रहो और मैं सारा वक्त तुम्हारी दिलजोई करता रहूँ? अगर एक साथ रहना तुम्हें फल नहीं रहा था तो पहले ही मुझे छोड़ जाती। तुम मुझे क्यों नहीं छोड़ कर चली गई? तब न तो हर आए दिन तुम्हें उलाहनें देने पड़ते और न ही मुझे सुनने पड़ते। अगर गृहस्थी में तुम मेरे साथ घिसटती रही हो, तो इसका दोषी मैं नहीं हूँ, स्वयं तुम हो। तुम्हारी बेरुखी मुझे सालती रहती है, फिर भी अपनी जगह अपने को पीड़ित दुखियारी समझती रहती हो।'

मन हुआ, मैं उसके पीछे न जाऊँ। लौट आऊँ, और बेंच पर बैठ कर अपने मन को शांत करूँ। कैसी मेरी मन:स्थिति बन गई है। अपने को कोसता हूँ तो भी व्याकुल, और जो तुम्हें कोसता हूँ तो भी व्याकुल। मेरा साँस फूल रहा था, फिर भी मैं तुम्हारी ओर देखता खड़ा रहा।

सारा वक्त तुम्हारा मुँह ताकते रहना, सारा वक्त लीपा-पोती करते रहना, अपने को हर बात के लिए दोषी ठहराते रहना, मेरी बहुत बड़ी भूल थी।

पटरी पर से उतर जाने के बाद हमारा गृहस्थ जीवन घिसटने लगा था। पर जहाँ शिकवे-शिकायत, खीझ, खिंचाव, असहिष्णुता, नुकीले कंकड़-पत्थरों की तरह हमारी भावनाओं को छीलने-काटने लगे थे, वहीं कभी-कभी विवाहित जीवन के आरंभिक दिनों जैसी सहज-सद्भावना भी हरहराते सागर के बीच किसी झिलमिलाते द्वीप की भाँति हमारे जीवन में सुख के कुछ क्षण भी भर देती।

पर कुल मिला कर हमारे आपसी संबंधों में ठंडापन आ गया था। तुम्हारी मुस्कान अपना जादू खो बैठी थी, तुम्हारी खुली पेशानी कभी-कभी सँकरी लगने लगी थी, और जिस तरह बात सुनते हुए तुम सामने की ओर देखती रहती, लगता तुम्हारे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ रहा है। नाक-नक्श वही थे, अदाएँ भी वही थीं, पर उनका जादू गायब हो गया था। जब शोभा आँखें मिचमिचाती है - मैं मन ही मन कहता - तू बड़ी मूर्ख लगती है।

मैंने फिर से नजर उठा कर देखा। शोभा नजर नहीं आई। क्या वह फिर से पेड़ों-झाड़ियों के बीच आँखों से ओझल हो गई है? देर तक उस ओर देखते रहने पर भी जब वह नजर नहीं आई, तो मैं उठ खड़ा हुआ। मुझे लगा जैसे वह वहाँ पर नहीं है। मुझे झटका सा लगा। क्या मैं सपना तो नहीं देख रहा था? क्या शोभा वहाँ पर थी भी या मुझे धोखा हुआ है? मैं देर तक आँखें गाड़े उस ओर देखता रहा जिस ओर वह मुझे नजर आई थी।

सहसा मुझे फिर से उसकी झलक मिली। ऐसा पहली बार नहीं हो रहा था। पहले भी वह आँखों से ओझल होती रही थी। मुझे फिर से रोमांच सा हो आया। हर बार जब वह आँखों से ओझल हो जाती, तो मेरे अंदर उठने वाली तरह-तरह की भावनाओं के बावजूद, पार्क पर सूनापन सा उतर आता। पर अबकी बार उस पर नजर पड़ते ही मन विचलित सा हो उठा। शोभा पार्क में से निकल जाती तो?

एक आवेग मेरे अंदर फिर से उठा। उसे मिल पाने के लिए दिल में ऐसी छटपटाहट सी उठी कि सभी शिकवे-शिकायत, कचरे की भाँति उस आवेग में बह से गए। सभी मन-मुटाव भूल गए। यह कैसे हुआ कि शोभा फिर से मुझे विवाहित जीवन के पहले दिनों वाली शोभा नजर आने लगी थी। उसके व्यक्तित्व का सारा आकर्षण फिर से लौट आया था। और मेरा दिल फिर से भर-भर आया। मन में बार-बार यही आवाज उठती, 'मैं तुम्हें खो नहीं सकता। मैं तुम्हें कभी खो नहीं सकता।'

यह कैसे हुआ कि पहले वाली भावनाएँ मेरे अंदर पूरे वेग से फिर से उठने लगी थीं।

मैंने फिर से शोभा की ओर कदम बढा दिए।

हाँ, एक बार मेरे मन में सवाल जरूर उठा, कहीं मैं फिर से अपने को धोखा तो नहीं दे रहा हूँ? क्या मालूम वह फिर से मुझे ठुकरा दे?

पर नहीं, मुझे लग रहा था मानो विवाहोपरांत, क्लेश और कलह का सारा कालखंड झूठा था, माना वह कभी था ही नहीं। मैं वर्षो बाद तुम्हें उन्हीं आँखों से देख रहा था जिन आँखों से तुम्हें पहली बार देखा था। मैं फिर से तुम्हें बाँहों में भर पाने के लिए आतुर और अधीर हो उठा था।

तुम धीरे-धीरे झाड़ियों के बीच आगे बढ़ती जा रही थी। तुम पहले की तुलना में दुबला गई थी और मुझे बड़ी निरीह और अकेली सी लग रही थी। अबकी बार तुम पर नजर पड़ते ही मेरे मन का सारा क्षोभ, बालू की भीत की भाँति भुरभुरा कर गिर गया था। तुम इतनी दुबली, इतनी निसहाय सी लग रही थी कि मैं बेचैन हो उठा और अपने को

धिक्कराने लगा। तुम्हारी सुनक सी काया कभी एक झाड़ी के पीछे तो कभी दूसरी झाड़ी के पीछे छिप जाती। आज भी तुम बालों में लाल रंग का फूल टाँकना नहीं भूली थी।

स्त्रियाँ मन से छुब्ध और बेचैन रहते हुए भी, बन-सँवर कर रहना नहीं भूलतीं। स्त्री मन से व्याकुल भी होगी तो भी साफ-सुथरे कपड़े पहने, सँवरे-सँभले बाल, नख-शिख से दुरुस्त हो कर बाहर निकलेगी। जबकि पुरूष, भाग्य का एक ही थपेड़ा खाने पर फूहड़ हो जाता है। बाल उलझे हुए, मुँह पर बढ़ती दाढ़ी, कपड़े मुचड़े हुए और आँखो में वीरानी लिए, भिखमंगों की तरह घर से बाहर निकलेगा। जिन दिनों हमारे बीच मनमुटाव होता और तुम अपने भाग्य को कोसती हुई घर से बाहर निकल जाती थी, तब भी ढंग के कपड़े पहनना और चुस्त-दुरुस्त बन कर जाना नहीं भूलती थी। ऐसे दिनो में भी तुम बाहर आँगन में लगे गुलाब के पौधे में से छोटा सा लाल फूल बालों में टाँकना नहीं भूलती थी। जबकि मैं दिन भर हाँफता, किसी जानवर की तरह एक कमरे से दूसरे कमरे में चक्कर काटता रहता था।

तुम्हारी शॉल, तुम्हारे दाएँ कंधे पर से खिसक गई थी और उसका सिरा जमीन पर तुम्हारे पीछे-घिसटने लगा था, पर तुम्हें इसका भास नहीं हुआ क्योंकि तुम पहले की ही भाँति धीरे-धीरे चलती जा रही थी, कंधे तनिक आगे को झुके हुए। कंधे पर से शॉल खिसक जाने से तुम्हारी सुडौल गर्दन और अधिक स्पष्ट नजर आने लगी थी। क्या मालूम तुम किन विचारों में खोई चली जा रही हो। क्या मालूम हमारे बारे में, हमारे संबंध-विच्छेद के बारे में ही सोच रही हो। कौन जाने किसी अंत: प्रेरणावश, मुझे ही पार्क में मिल जाने की आशा ले कर तुम यहाँ चली आई हो। कौन जाने तुम्हारे दिल में भी ऐसी ही कसक ऐसी ही छटपटाहट उठी हो, जैसी मेरे दिल में। क्या मालूम भाग्य हम दोनों पर मेहरबान हो गया हो और नहीं तो मैं तुम्हारी आवाज तो सुन पाऊँगा, तुम्हे आँख भर देख तो पाऊँगा। अगर मैं इतना बेचैन हूँ तो तुम भी तो निपट अकेली हो और न जाने कहाँ भटक रही हो। आखिरी बार, संबंध-विच्छेद से पहले, तुम एकटक मेरी ओर देखती रही थी। तब तुम्हारी आँखें मुझे बड़ी-बड़ी सी लगी थीं, पर मैं उनका भाव नहीं समझ पाया था। तुम क्यों मेरी ओर देख रही थी और क्या सोच रही थी, क्यों नहीं तुमने मुँह से कुछ भी कहा? मुझे लगा था तुम्हारी सभी शिकायतें सिमट कर तुम्हारी आँखों के भाव में आ गए थे। तुम मुझे नि:स्पंद मूर्ति जैसी लगी थी, और उस शाम मानो तुमने मुझे छोड़ जाने का फैसला कर लिया था।

मैं नियमानुसार शाम को घूमने चला गया था। दिल और दिमाग पर भले ही कितना ही बोझ हो, मैं अपना नियम नहीं तोड़ता। लगभग डेढ़ घंटे के बाद जब में घर वापस

लौटा तो ड्योढ़ी में कदम रखते ही मुझे अपना घर सूना-सूना लगा था। और अंदर जाने पर पता चलता कि तुम जा चुकी हो। तभी मुझे तुम्हारी वह एकटक नजर याद आई थी? मेरी ओर देखती हुई।

तुम्हें घर में न पा कर पहले तो मेरे आत्म-सम्मान को धक्का-सा लगा था कि तुम जाने से पहले न जाने क्या सोचती रही हो, अपने मन की बात मुँह तक नहीं लाई। पर शीघ्र ही उस वीराने घर में बैठा मैं मानो अपना सिर धुनने लगा था। घर भाँय-भाँय करने लगा था।

अब तुम धीरे-धीरे घास के मैदान को छोड़ कर चौड़ी पगडंडी पर आ गई थी जो मकबरे की प्रदक्षिणा करती हुई-सी पार्क के प्रवेश द्वारा की ओर जाने वाले रास्ते से जा मिलती है। शीघ्र ही तुम चलती हुई पार्क के फाटक तक जा पहुँचोगी और आँखों से ओझल हो जाओगी।

तुम मकबरे का कोना काट कर उस चौकोर मैदान की ओर जाने लगी हो जहाँ बहुत से बेंच रखे रहते हैं और बड़ी उम्र के थके हारे लोग सुस्ताने के लिए बैठ जाते हैं।

कुछ दूर जाने के बाद तुम फिर से ठिठकी थी मोड़ आ गया था और मोड़ काटने से पहले तुमने मुड़ कर देखा था। क्या तुम मेरी ओर देख रही हो? क्या तुम्हें इस बात की आहट मिल गई है कि मैं पार्क में पहुँचा हुआ हूँ और धीरे-धीरे तुम्हारे पीछे चला आ रहा हूँ?

क्या सचमुच इसी कारण ठिठक कर खड़ी हो गई हो, इस अपेक्षा से कि मैं भाग कर तुम से जा मिलूँगा? क्या यह मेरा भ्रम ही है या तुम्हारा स्त्री-सुलभ संकोच कि तुम चाहते हुए भी मेरी ओर कदम नहीं बढ़ाओगी?

पर कुछ क्षण तक ठिठके रहने के बार तुम फिर से पार्क के फाटक की ओर बढ़ने लगी थी।

मैंने तुम्हारी और कदम बढ़ा दिए। मुझे लगा जैसे मेरे पास गिने-चुने कुछ क्षण ही रह गए हैं जब मैं तुमसे मिल सकता हूँ। अब नहीं मिल पाया तो कभी नहीं मिल पाऊँगा। और न जाने क्यों, यह सोच कर मेरा गला रुँधने लगा था।

पर मैं अभी भी कुछ ही कदम आगे की और बढ़ा पाया था कि जमीन पर किसी भागते साए ने मेरा रास्ता काट दिया। लंबा-चौड़ा साया, तैरता हुआ सा, मेरे रास्ते को काट कर निकल गया था। मैंने नजर ऊपर उठाई और मेरा दिल बैठ गया। चील हमारे सिर

के ऊपर मँडराए जा रही थी। क्या यह चील ही हैं? पर उसके डैने कितने बड़े हैं और पीली चोंच लंबी, आगे को मुड़ी हुई। और उसकी छोटी-छोटी पैनी आँखों में भयावह सी चमक है।

चील आकाश में हमारे ऊपर चक्कर काटने लगी थी और उसका साया बार-बार मेरा रास्ता काट रहा था।

हाय, यह कहीं तुम पर न झपट पड़े। मैं बदहवास सा तुम्हारी ओर दौड़ने लगा, मन चाहा, चिल्ला कर तुम्हें सावधान कर दूँ, पर डैने फैलाए चील को मँडराता देख कर मैं इतना त्रस्त हो उठा था कि मुँह में से शब्द निकल नहीं पा रहे थे। मेरा गला सूख रहा था और पाँव बोझिल हो रहे थे। मैं जल्दी तुम तक पहुँचना चाहता था मुझे लगा जैसे मैं साए को लाँघ ही नहीं पा रहा हूँ। चील जरूर नीचे आने लगी होगी। जो उसका साया इतना फैलता जा रहा है कि मैं उसे लाँघ ही नहीं सकता।

मेरे मस्तिष्क में एक ही वाक्य बार-बार घूम रहा था, कि तुम्हें उस मँडराती चील के बारे में सावधान कर दूँ और तुमसे कहूँ कि जितनी जल्दी पार्क में से निकल सकती हो, निकल जाओ। मेरी साँस धौंकनी की तरह चलने लगी थी, और मुँह से एक शब्द भी नहीं फूट पा रहा था।

बाहर जाने वाले फाटक से थोड़ा हट कर, दाएँ हाथ एक ऊँचा सा मुनारा है जिस पर कभी मकबरे की रखवाली करनेवाला पहरेदार खड़ा रहता होगा। अब वह मुनार भी टूटी-फूटी हालत में है।

जिस समय मैं साए को लाँघ पाने को भरसक चेष्टा कर रहा था उस समय मुझे लगा था जैसे तुम चलती हुई उस मुनारे के पीछे जा पहुँची हो, क्षण भर के लिए मैं आश्वस्त सा हो गया। तुम्हें अपने सिर के ऊपर मँडराते खतरे का आभास हो गया होगा। न भी हुआ हो तो भी तुमने बाहर निकलने का जो रास्ता अपनाया था, वह अधिक सुरक्षित था।

मैं थक गया था। मेरी साँस बुरी तरह से फूली हुई थी। लाचार, मैं उसी मुनारे के निकट एक पत्थर पर हाँफता हुआ बैठ गया। कुछ भी मेरे बस नहीं रह गया था। पर मैं सोच रहा था कि ज्यों ही तुम मुनारे के पीछे से निकल कर सामने आओगी, मैं चिल्ला कर तुम्हें पार्क में से निकल भागने का आग्रह करूँगा। चील अब भी सिर पर मँडराए जा रही थी।

तभी मुझे लगा तुम मुनारे के पीछे से बाहर आई हो। हवा के झोंके से तुम्हारी साड़ी का पल्लू और हवा में अठखेली सी करती हुई तुम सीधा फाटक की ओर बढ़ने लगी हो।

'शोभा!' मैं चिल्लाया।

पर तुम बहुत आगे बढ़ चुकी थी, लगभग फाटक के पास पहुँच चुकी थी। तुम्हारी साड़ी का पल्लू अभी भी हवा में फरफरा रहा थ। बालों में लाल फूल बड़ा खिला-खिला लग रहा था।

मैं उठ खड़ा हुआ और जैसे तैसे कदम बढ़ता हुआ तुम्हारी ओर जाने लगा। मैं तुमसे कहना चाहता था, 'अच्छा हुआ जो तुम चील के पंजों से बच कर निकल गई हो, शोभा।'

फाटक के पास तुम रुकी थी, और मुझे लगा था जैसे मेरी ओर देख कर मुस्कराई थी और फिर पीठ मोड़ ली थी और आँखों से ओझल हो गई थी।

मैं भागता हुआ फाटक के पास पहुँचा था। फाटक के पास मैदान में हल्की-हल्की धूल उड़ रही थी और पार्क में आने वाले लोगों के लिए चौड़ा, खुला रास्ता भाँय-भाँय कर रहा था।

तुम पार्क में से सही सलामत निकल गई हो, यह सोच कर मैं आश्वस्त सा महसूस करने लगा था। मैंने नजर उठा कर ऊपर की ओर देखा। चील वहाँ पर नहीं था। चील जा चुकी थी। आसमान साफ था और हल्की-हल्की धुंध के बावजूद उसकी नीलिमा जैसे लौट आई थी।